

श्रीहरिः

शकुन्तला

लेखक

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

प्रकाशक

साहित्य-मदन,

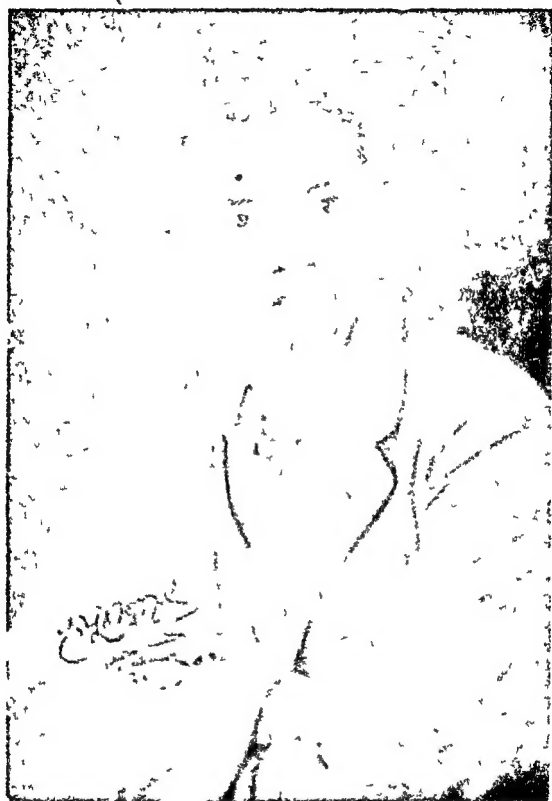
चिरगाँव (भोँसी)

४४ संस्करण]

संवत् १९८४

[मूल्य १=]

LIBRARY
1984



— रात भीहानना को कामी कता मे स्मिति मे ।
 विन काम से / समी ७ सम गुन मे निता की छिति मे ॥

मैथिलीनाथ गुप्त

श्रीगणेशायनमः

शकुन्तला

उपक्रम

[१]

पञ्चवटी की छाया में जो खेल खगों से करती है,
ममता-भूर्ति-समान मृगों के मध्य समोद विचरती हैं ।
मुसका रहे देख कर राघव जिनकी यह अदभुत लीला—
वही विदेह-नन्दिनी हम पर रहे सदा करुणाशीला ॥

[२]

मृगया-रत दुष्यन्त भूप को एक कृष्ण-मृग मन भाया—
होम-धूम-धूसरित फणव के पुण्याश्रम में ले आया ।
मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया—
और यहाँ श्री कालिदास ने श्रवण-सुधा-रस बरसाया ॥

[३]

करके उस रस का आस्वादन हुए विरस भी सरस अह !
भारत में क्या सभी जगत में जिसका सौरभ फैल रहा ।
प्रस्तुत नूतन पद्य-पात्र यह उसी सु-रस-हित किया गया,
अहोभाग्य है यदि इसमें यह एक सूँद भी लिया गया ॥

जन्म और बाल्यकाल

[१]

एक बार मुनिवर कौशिक के तप से सुरपति त्रस्त हुआ,
इन्द्रासन छे ले न कहीं मुनि, यह विचार कर व्यस्त हुआ ।
भेनी तब अप्सरा मेनका उसने ऐसी रूपवती—
जिसे देख कर अपना समय रख न सके वे महावती !

[२]

यथा समय इस छलबल का फल शकुन्तला का जन्म हुआ,
गृह द्वितीया में प्रदोष से चन्द्रकला का जन्म हुआ ।
किन्तु माथ ले गद् तपोधन-मात्र मेनका मोदमयी,
हाय ! हाय ! उस कुसुमकली का वहीं विपिन में छोड़ गद् !

[३]

जिम पर निज पत्नी की छाया रखी शकुन्त द्विजवर ने—
मृदु-कंपल-सी यह मुनि-कन्या देखी कृष्ण मुनीश्वर ने ।
दयाशील ये, उसे उठा कर निज आश्रम में ले आये,
हुई सुता तब से शकुन्तला और पिता वे कहलाये ॥

[४]

वहाँ गौतमी तपस्विनी ने उसे प्रमूर्च्छक पाला,
दीप्तिशाला की भाँति कुटी में फैला उसमें वज्रियाला ।
त्यागी तथा तपस्वी मुनिवर कुछ गृहस्थ-से जान पड़े,
जग से उदासीन होकर भी हाथे हैं मुनि सन्य भड़े ॥

[५]

पुण्य तपोवन की रज में वह खेल खेल कर खड़ी हुई;
 आश्रम की नवलतिकाओं के साथ साथ कुछ बड़ी हुई ।
 पर समता कर सकीं न उसकी राजोग्रान-महियों भी,
 लज्जित हुईं देख कर उसको नन्दन-विपिन-बलियों भी !

[६]

उसके रूप-रङ्ग-मौरभ से महक उठा वह वन सारा;
 जीवन की धारा थी मानों मञ्जु मालिनी की धारा ।
 रखती थी प्रेमाद्र सभी को वह अपने व्यवहारों से;
 पशु-पक्षी भी सुख पाते थे उसके दुःखाचारों से ॥

[७]

कभी घड़ों में भर भर कर वह पांथों को जल देती थी;
 कभी खगों के, कभी मृगों के बच्चों की सुघ लेती थी ।
 तोते कभी पढ़ाती थी वह, कभी मयूर नचाती थी,
 सहचरियों के साथ छाँह में फीझ कभी मचाती थी ॥

[८]

सीमा-रहित अनन्त-भागन-सा विवृत उत्तरा प्रेम हुआ;
 औरों का कल्याण-कार्य ही उन्का अपना ऐन हुआ ।
 हिसक पशु भी उसे देखकर पैरों में पड़ जाते थे,
 मुँह में हाथ दाब कर धीरे मीठी थपकी पाते थे !

[९]

बुद्धि कुशाग्र-भाग सी उमड़ी शिक्षा पाने में वैठी,
पाठ याद कर लेती थी वह अनायास वैठी वैठी ।
नेव-देवियों के चरित्र जब प्रेम सहित बह गायी थी—
तब माछिनी नदी भी मानो क्षण भर को थम जाती थी

[१०]

हस और मीनों से उमने जल में तरना सीखा था,
शीतल और मुग्न्य पवन से मन्त्र विहरना सीखा था ।
होम-शिखा स सङ्गानों का जग में भरना सीखा था,
आश्रम के अन्त विटपा में परहित करना सीखा था ॥

[११]

मुक्त नमोमण्डल-सा अविचल निर्मल जीवन था उसका,
उया व प्रकार-सा पावन निरालस्य तन था उसका ।
उद-बल, उद्य, हिमालय जैसा अति अन्त मन था उसका;
प्रकट-अधिष्ठात्री-मा थी वह, धन्य कषावन था उसका ।

[१२]

गुग्गुन की सेवा गुग्गुना अति महित बह करती थी,
शीतल-जल-युत कन्ध-मूल-कल कनेके मम्मुर धरती थी ।
प्राते थे जो अतिथि वहाँ पर अतिरय आदर पाते थे,
मुक्त कण्ठ से उसके मन्त्र गायते गते जाते थे ॥

- [१३]

नया नया उत्साह कार्य में उसे सर्वदा रहता था ;

दया और ममता का मिलकर स्रोत निरन्तर बहता था ।

उसकी भोली भाली सूरत एक बार जिसने देखी—

मानों सुर-गुरु-कन्या ही की अनुपम छवि उसने लेखी ॥

[१४]

ज्यो ज्यो बड़ी हुई वह त्यां त्यां पिता कण्व का प्यार बढ़ा,

किन्तु व्याह का सोच हुआ फिर जब यौवन का तार चढ़ा ।

भला कहाँ से घर आवेगा इस बाला के योग्य यहाँ ?

कल्पलता के योग्य अवनति पर पारिजात की प्राप्ति कहाँ ?

[१५]

पर सखियों के साथ सर्वदा शकुन्तला हर्षित रहती;

उसी एक पर-सेवा-भक्त के ऊपर आकर्षित रहती ।

जब अनुसूया प्रियंवदा ने परिणय-चर्चा आती थी—

तब केवल सिर नीचा कर वह मुसका कर रह जाती थी ॥

[१६]

नित्य उरोजों के उभार से अङ्गों को कसने वाली—

बल्कल की चोली हँस हँस कर ढीली करती थी आली ।

फूलों के गहने पहने वह विपिन-वामिनी सुकुमारी—

उतरी था भूतल पर मानों दिव्य लोक की नव-नारी ॥



दर्शन

[१]

एक बार शकुन्तला को मौप आश्रम मार—

साम सोंभें गये हुए थे कण्व कण्ठागार ।

अनग्नि ही सर्वथा निज धर्म में अनुरक्त—

आगये महमा यहाँ दुष्यन्त मृगयामत्त ॥

[२]

अम गुमाश्रम के द्रुमों की नेत्रने ही छोड़—

फटकने उनका लार्ता गुम-शकुन्त-सूषक बौढ़ ।

तब हुआ फल के पिण्य में इस प्रकार विचार—

मुक्त है मवत्र ही भवितव्यता का द्वार ॥

[३]

माचत ही थे अभी इस भौंठि वे भूपाल,

“इधर आली । इधर ” यह बाणों हुई सत्काल ।

चौक कर गिँच-भ गये अम और वे मन्नेह,

या बटी भवितव्यता का द्वार निम्ननेह ॥

[४]

कर रही थी जो अलौकिक स्फुरन की वृष्टि,

जा पदों समियों समेत रहन्त-अ पर वृष्टि ।

जो कि आश्रम वाटिका में भीवती थी नीर,

नय-यौवन-पूर्ण विसका या सुभय्य शरीर ॥



[५]

शुद्ध होम-शिखोपमा उस सुन्दरी को देख—

रह गये निस्तब्ध-सं नृप सफल लोचन लेख
व्यर्थ भूषण-भार से बढ़ता न उसका मान,
थी स्वयं ही वह सुवर्णा रत्नराजि-समान ॥

[६]

भ्रू कुटिल थे किन्तु सुस्थिर, पलक-पट अनमोल,
दीर्घ थे, शुक्ति-पूर्ण थे पर थे न लोचन लोल ।
भाव-सा भलका रहे थे विमल गोल कपोल,
घोल देते थे सुधान्ती सरल नुख के बोल ॥

[७]

घट-वहन से स्कन्ध नत थे और करतल लाल,
उठ रहा था श्वास-गति से वक्षदेश विशाल ।
भ्रू-पुष्प-परिमही था स्वेद-सीकर-जाल,
एक कर मे थी सँभाले मुक्त काले बाल ॥

[८]

पुष्प-राशि-समान उसकी देख पावन वान्ति—

भ्रू को होने लगी जङ्गल-लता की भ्रान्ति ।
क्या मनोमय से उन्हीं के जान कर अरविन्द—
धूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिन्द !

[९]

किन्तु आँखों की ओर से हम फेर चारम्बार—

सोमने-सी वह लता मय-मय चूड़ित-लज्जित !

अन्त में कहने लगी—अब क्या करें मैं हाथ ?

आँखों ने सब बनाया इस प्रकार उभाव—

[१०]

“इस समय दुःख-त हो हो रत्नगण पुकार,

है लगान का निम्न मूर पर नी मार ।”

या नन मुन और अमर नेत्र-अनुरूप—

इस तरह करत हुए प्रकटित हुए मूर मूर—

[११]

“धौरवा के हाथ जब तक है सु-गणित-भार,

कौन करता है यहाँ पर दीठ अदावार ?”

नेत्र-आँखों अगन-मूर का निन न—

बौक कर आन-न्या मने अ मने ॥

[१२]

हूँ मुय शकुन्तला भी नृपति-का नेत्र,

मन-नेत्रा न-मिन्दे अनेन्द्र भी मविन्दे ।

अन-अन-अतिथि को, अतिथि न सुपचार,

ने न्या मने दृश्य भी मी अने अने ॥

[१३]

द्रवित दोनों ही हुए पाकर प्रणय का तापः

आलियों के बीच में होने लगा अनुलाप ।

आदि हो तो हो, नहीं है उस कगा का अन्त,

था समय रति-काम-युक्त वह मूर्तिमन्त वसन्त ॥

[१४]

विवश आया बिछड़ने का समय दोनों ओर—

बिछड़कर भी वे परस्पर बन गये चित्तचोर !

मार्ग में, मिस से, ठिठकती, ठहरती सौ बार—

गई व्यग्र शकुन्तला नृप को निहार निहार ॥

[१५]

इधर नृप को भी दिवस करना पड़ा अस्थान,

किन्तु उनका मन वहीं पर होगया रममाण !

प्रवश तनु ने भी दिखाई अलसता तत्काल—

अन्तु आश्रम के निकट ही दिये डरे जल ॥



[१]

रखुन्तछा की चाह में होकर अधिक अपार ।
 धिरे ते ये दुष्यन्त नृप मञ्जु मालिनी-तार ॥
 मञ्जु मालिनी-तार विरह के दुःख के मारे,
 करते विविध विचार मिलन की आशा धारे ।
 होते हैं ज्यों चाह कर्म-जन को कमला का,
 यो चिन्ता गम्भार चित्त में रखुन्तछा की ॥

[२]

हाता निमक्का ध्यान ही अति अग्रिय सर काल,
 अनुमन ऐसे विरह का क्या न करे बेहाल ?
 क्यों न करे बेहाल विरह का पाश मारे,
 जान पड़े क्यों भार न जग की रातें सारी ?
 प्रिय मिलनातर सैन नहीं सुन बुध है राता ?
 अहो ! विरह का ममय बढ़ा ही दुग्मह होता ॥

[३]

“दुःखदायी हो आन यह शीतल सुन्दर समोर ।
 प्रिया बिना करता व्यथित मेरा तन शरीर ।
 मरा तन शरीर न सुख इससे पाता है,
 उल्टा आन-ममान उम यह बुलभाता है ।
 किन्तो ने यह बात बहुत ही ठीक बताई—
 यन जाती है कहीं भूषा भी विष दुःखदायी ॥

[४]

करता है तू पञ्चशर ! विद्ध यदपि मम चित्त ।

हूँ कृतज्ञ तेरा तदपि मैं इस कार्य-निमित्त ॥

मैं इस कार्य-निमित्त मानता हूँ गुण तेरा,

इस प्रकार उपकार मार ! होता है मेरा ।

जिस सुमुखी का विरह धैर्य मेरा हरता है,

उसके ही मिलनार्थ प्रेरणा तू करता है ॥”

[५]

इस प्रकार से घूमते छोड़ काम सब और ।

देखी नृम ने निज प्रिया एक मनोहर ठौर ॥

एक मनोहर ठौर पड़ी पहल-शय्या पर,

श्रीण कलाधरकला-सदृश तो भी अति सुन्दर ।

लगे देखने नृपति उसे तब बड़े प्यार से,

देख न कोई सके खड़े हो इस प्रकार से ।

[६]

जैसे उसके विरह में व्याकुल थे दुष्यन्त ।

वह भी थी उनके दिना व्यग्र, विकल अत्यन्त ॥

व्यग्र-विकल अत्यन्त, नहीं धीरंज धरती थी;

प्रेम-निन्धु-यड़वाभि-श्रीच जल जल मरती थी ॥

सब शीतल उपचार दहन करते थे ऐसे—

नव नलिनी को तुहिन दहन करता है जैसे ॥

[७]

हाथों ज्यों निशि में विकर काँची कोक-विहीन ।

धी-धिया हा वह प्रिय बिना विरह विकल, अति नीन ॥

विरह विकल, अति नीन न कर पाती थीं पल्लवर,

नेतां सरियों यन्पि यत्न में थीं अति सत्पर ।

क्षण क्षण में विरहाग्नि घैर्ष्य उसका थीं लाती,

ओषधिया से दूर मानसिक व्याधि न होती ॥

[८]

इस दुःख से ही दुःखित हो, सरियों का मत मान ।

नम मृगजयनी ने लिया प्रेम-मग्न घर ध्यान ॥

प्रम-मग्न घर ध्यान लिया दुष्यन्त भूष को,

लार्कस्तर लावण्य, मनोमादक सुरूप को ।

मानो उमने सुना स्वयं आशा के मुख स—

हे कम वह उपाय मुक्तिदाता इस दुःख से ॥

[९]

करते रगना पत्र की भरे हुए प्रिय ध्यान ।

यह त्रियोगिनी बन गई सयोगिनी-समान ।

सयोगिनी-समान दृष्टि-मय म आती थीं,

राज सोचती हुई अलौकिक-दृष्टि पाती थी ।

उन्नत या झूलता, नयन के मन को दृष्टे,

पुलकित युगल कपोट प्रकट पति में रति करते ॥

[१०]

“प्रियवर ! मैं तब हृदय की नहीं जानती घात ।
सन्तापित करता मुझे कुसुमायुध दिन-रात ॥
कुसुमायुध दिन-रात घात करता रहता है,
तब मिलनातुर देह दाह दुस्सह सहता है ।
विधु-विद्योग से विमुद कुमुदिनी होती सत्वर,
पर विधु-भन को कौन जान सकता है, प्रियवर !”

[११]

प्यारे पति को पत्र में लिखकर यों सब हाल ।
लगी सुनाने वह उसे सखियों को जिस काल ॥
सखियों को जिस काल पत्र वह लगी सुनाने,
चन्द्र-चदन से प्रेम-सुधा-धारा बरसाने ।
सफल मान दुष्यन्त सुकृत इससे निज सारे,
होकर भटपट प्रकट वचन बोले यों प्यारे—

[१२]

“देता है कुरातनु ! तुझे ताप मात्र ही काम ।
किन्तु भस्म करता मुझे ! निशिदिन आठों याम ॥
निशिदिन आठों याम काम है मुझे जलाता,
दहन-दुःख-अनुभवी तत्रपि वह दया न लाता ।
कुमुद्वती का दिवस हास्य ही हर लेता है,
पर विधु को यह नाम शेष-स्ता कर देता है ॥”

[१३]

सहसा ऐसे मिलन स दृष्ट भाव जो व्यक्त ।

उनके लियेने में अहो ! हम हैं यहाँ अराक्त ॥

हम हैं यहाँ अराक्त मिलन-सुख समझने में,

प्रणयिनी के चरित नहीं आते गाने में,

काव्य-कथन-सादृश्य किया जा सकता कैसे ?

मममंगे वस वही मिलें जो सहसा ऐसे ॥



अवधि

[१]

होकर अति सिद्ध विगुद्ध प्रेम के तप मे,
करके गान्धर्व विवाह लता-भण्डव मे ।
दोनों प्रेमी कुतर्क्य हुए निज मन में,
वह मौन तरोवन पलट गया उपवन में !

[१]

थी शकुन्तला गुणवती, सुन्दरी, जैसी—
दुष्पन्त भूप की गुणावली थी वैसी ।
सुख और शान्ति के श्रेष्ठ भाव मिल मिल कर,
करते थे निल नवीन खेल खिल खिल कर ॥

[३]

हर्षित होते थे हार गूँथ कर दोनों,
पहनाते थे फिर उन्हें परस्पर दोनों ।
पल पल मे फिर वे उन्हें बदल लेते थे,
मिलकर पौधों को कभी सलिल देते थे ॥

[४]

पिय बिना प्रिया से रही नहीं जाता था,
पर उनको उसका हरिण न पंथियाता था !
करते थे हँसकर भूप गिरा तप ऐसी—
है तुम दोनों की दृष्टि एक हो जैनी ॥

[५]

फलचिन्द दिग्गती हुई, हर्ष में भूली—

नृप की शकुन्तला प्रीति-रता-सी पृथी ।

पर फल आने तक रह न सके ये मन में,

लाचार, वधे-से गये राज्य-बन्धन में ॥

[६]

गमनोत्तर वे किम समय हुए आश्रम से—

दोनों सखियों ने कहे यवन यौ धम से—

‘हि देव ! हमारे दोष न मन में छाना—

निज शकुन्तला को वहाँ भूल मत जाना’ ॥

[७]

बोले नृप हंसकर—“तोन कहा है तुमने,

फिर भी क्या इतना कष्ट सहा है तुमने ?

कैसे हम मन में व्यथ दोष छानि ?

जो मन में है, किम मोति भूल जाओगे ? ’

[८]

तब शकुन्तला ने कहा, यह रस-नद-सा,

! “प्राणेश्वर ! अब क्या” कण्ठ हुआ गद्गद-सा ।

हो सका न पूरा वाक्य वेद के कारण,

हो गया अयम्माव हाय ! वैष्य का कारण ॥

[९]

पोछी उसका दृग-नीर स्वयं नृपवर ने,

जिसके प्रवाह मे हृदय लगा था तरने ।

निज-नामाङ्कित-मुद्रिका उसे पहनाई,

इस भाँति मिलन की अवधि विशेष बताई—

[१०]

“प्रतिदिन तू मेरा एक एक नामाक्षर—

गिनती रहना है प्रिये ! सु-निश्चय रखकर ।

जब तक सब अक्षर धन्य गण्य हों तेरे—

लेने आवेगे तुझे योग्य जन मेरे ॥”

[११]

देकर प्रबोध यों प्राणप्रिया के उर को—

दुष्यन्त किसी विष गये हस्तिनापुर को !

पर शकुन्तला की गई न चिन्ता फिर भी,

वह ध्यान-मूर्ति-सी हुई मन्त्र अखिर शी ॥



अभिधाप

[१]

शांति-स्थान मज्ञान कण्ठ मुनि के पुण्याश्रमागान में,
 वासिष्ठान-निर्द्दिन, लीन अति हो दुष्यन्त के ध्यान में।
 बैठा मौन रहन्तला महन थी मौन्य से मोहती,
 मानों होकर धिर में गचित-माँ या चित्त को मोहती ॥

[२]

हाके माँ प्रहृत स्वरूप ग्मद्य अशाकृत श्रेष्ठ था,
 लज्जा से मुख-बन्धु ग्मद्य ग्मका अम्मोप निव्रेष्ट था,
 मृता होकर माँ शरीर ग्मका आभूषणों में अदा।
 मृता ग्मन्त योग्य, दुष्यन्त जिना, मौन्य था पा रहा ॥

[३]

गना आर करालेश पर से ये केरा छूट पड़े,
 हाक छोट मर्मर से ललित या वे गीगते ये बदे—
 अशीवद्ध मुगागविन् पर ये ये मृद माना अने,
 ये किंवा धन-वृन् इन्दुर को मृदधन् घेर लड़े ॥

[४]

ये चाञ्चल्य विहीन छोवन मुले मौन्य के मद्य यो—
 पीते ये मद्य मृद सुग मे पाके सिडे पद्य ग्यों।
 या एमा वृषु वन्न्त्य उमका स्वर्गि शोभा-मना—
 मानों लेकर सार भाग शशि का हो मार-द्वारा बना।

[५]

भोली सूरत थी रसार्द्र उसकी प्रेमान्धु की वृष्टि में,
 हो ली सुन्दर रूप की चरम थी सीमा सभी सृष्टि में ।
 थे स्वाभाविक भव्य भाव उसके, है वेश की क्या कथा ?
 पैठी व्यस्त वसन्त के विरह में हो वन्य-देवी यथा !

[६]

नाना हृदय नये समक्ष उसके थे चित्तहारी वहाँ—
 आते थे पर लक्ष्य में न उसके वे एक कोई कहीं ।
 थे सर्वत्र विशाल नेत्र उसके दुष्यन्त को देखते,
 पाण्डु-प्रस्त समस्त वस्तु जग में ज्यों पीत ही लेखते ॥

[७]

छाई तत्र नितान्त शान्ति सहिता सर्वत्र ही क्षान्ति थी,
 प्यारी कान्ति विलोक इन्द्र-वन की होती सदा भ्रान्ति थी ।
 मीड़ा में वन-जीव थे रत सभी आनन्द से क्षेम से,
 थे त्वच्छन्द जहाँ तहाँ उड़ रहे पक्षी बड़े प्रेम से ॥

[८]

पूरी निर्मल नीर से वह रही थी पास ही मालिनी,
 वृक्षाली जिसके प्रतीर पर थी भूरि-प्रभा शालिनी ।
 लीला से लहरें अनेक उठती थीं लीन होतीं तथा—
 मीनाक्षी सरिता कटाक्ष करती भ्रूक्षेप से थी चगा !

[९]

नीलाशश अपार उपर यग पैछा हुआ था बड़ा,
 शस्त्रश्यामल निश्चलातर तथा था श्रेष्ठ नीचे पड़ा ।
 थोड़ा भी इनका परन्तु असमो था ध्यान होता यहीं,
 चिन्ता युक्त पवित्र चित्त उसका अन्यत्र ही था कहीं ।

[१०]

तम अद्भुत ध्यान के समय में, विस्वात् शोभी महा—
 दुर्वासा मुनिवर्य्य घर गति में दैया पधारे यहाँ ।
 तेषावन्त शरीर सुदृग्गता अत्यन्त ही कान्त था,
 मातृगंडापम वक्त्रमण्डल तथा उदण्ट भी शान्त था ॥

[११]

दीप्तमधु जटा-समेत अने बे फेरा मारे मित,
 हाता था मुन हीप्रिमान डासे यो सर्वदा शोभित ।
 होके मुक्त निवृत्त मेघ-गण से वषान्त में ज्यों रवि—
 पाता रश्मि-समूह समुत्त सदा तेजोमयी है छवि ॥

[१२]

होने स प्रिय-प्रेम-मुग्ध उमने आते न जाना उन्हें,
 वैसी ही अतएव निवृत्त रही माना न माना उन्हें ।
 चित्ता से जिसको न आप अपने देहादि का ज्ञान हो—
 क्या आश्चर्य, न और का यदि उसे आते हुए ध्यान हो ?

[१३]

आया जान उन्हे, उसे पवन भी मानो जगाने लगी,
 खींचा वरु अनेक बार उसने, तो भी न वाला जगी ।
 धी प्यारे पति के समीप वह तो कैसे भला जागती ?
 तन्द्रा निश्चल प्रेम की सहज ही बोली, किसे त्यागती ?

[१४]

माना किन्तु महापमान जी मे उन्होने इसे,
 क्रोधाधिक्य विचार युक्त रखता संसार मे है किसे ?
 होते खिल कदापि वे न सहसा यों सोचते जो कहीं,
 'होता है मन एक ही मनुज के दो चार होते नहीं' ॥

[१५]

होके रुष्ट अतः अतीव मन में पाके घृथा ताप वे,
 कर्ण-कूर कठोर कण्ठ-रव से देने लगे शाप वे ।
 बोले शीघ्र पसार पाणि अपना, यों रुक्ष वाणी निरी—
 ज्यों वाताहत मेघ से उपल की धारा धरा पै गिरी !

[१६]

“चिन्ता में जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे:
 स्वामी मैं तप का तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे ।
 आवेगा तव-ध्यान ही न उसको, कोई कहे भी न क्यों;
 पाँछे पूर्व-कथा प्रमत्त जन को है याद आती न ज्यों ॥”

[१७]

या मोधाध, विचार-दान्य मुनि ने अत्युपमा से कहा,
 तो मी ध्यान हुआ न माह उमका सा पूर्व सा ही रहा,
 यहाँ में प्रिय चन्द्र-दशान-रता होती चकीरी जहाँ—
 मेघों की घोपणा तब उसे देती सुनाइ कहीं ।

[१८]

मी दोना सखियों समीप बन म, उत्तुछ मालोपमा,
 दौड़ी वे सुन थाप और मुनि से माँगी उन्होंने जमा ।
 होके शान्त किसी प्रकार तब वे बोले मही अन्त को—
 "आयेगी सुय सुद्रिका निरय के उद्भ्रात दुष्यन्त को ॥"



विदा

[१]

शान्त हृदय वात्सल्य-करुण से सना हुआ है,
कण्व-तपोवन आज सदन-सा बना हुआ है !
शकुन्तला की विदा आज है प्रिय के घर को,
विदित हुआ सब वृत्त हर्षपूर्वक मुनिवर को ॥

[२]

वे पुत्री के लिए चाहते थे वर जैसा—
निज सुकृतों से स्वयं पा लिया उसने वैसा ।
यह विचार कर तुष्ट हुए वे अपने मन में,
साज सजाये गये विदा के पावन वन में ॥

[३]

शकुन्तला क्या जाय हाय ! बल्कल ही पहने ?
वन-देवों ने दिये उसे सुन्दर पट-गाहने ।
सखियों ने शृङ्गार किया उसका मनमाना,
जिसको अन्तिम समझ बहुत कुछ उसने जाना ॥

[४]

प्रिय-दर्शन का उसे यदपि उत्साह बढ़ा था,
पर स्वजनों का विरह-ताप भी बहुत फड़ा था ।
विकल हुई यह उभय ओर की बाधा सहती,
ऊपर-नीचे भूमि यथा आकर्षित रहती ॥

[५]

चारा ओर उदास भाव आक्रम में धाये,
 सखिया के भी नेत्र आँसुआ स भर आये ।
 किन्तु उन्होंने कहा—“सखी ! कुछ सोच न कीजो,
 प्रिय को अपनी नाम मुद्रिका दिखला दीजो ” ॥

[६]

शकुन्तला कुछ पद न सही गढ़ा होने से,
 धा पवित्र कुछ और न उसने उस रोने से ।
 भावा चोपन प्रम-पूर्ण हो गिल सकता है,
 यह विद्वत्ता धन किन्तु कहीं फिर मिल नरता है

[७]

लागी थे मुनि कण्ठ, उन्हें भी करुणा आई,
 होती है कम सुता धरोहर, दस्तु पराई ।
 होम शिवा की परिष्कृता उससे परवाई,
 और उन्होंने स्वस्ति मिला यों उस मुनाई—

[८]

“तुम्हारे पति के यहाँ मिले सब मीति प्रतिष्ठा,
 अथवा ययाति के यहाँ हुई पूजित शर्मिष्ठा ।
 मार्गमार्ग पुर पुर हुआ था उसके जैसे—
 तेरे भी कुल-दीप दिव्य औरम हो जैसे ॥

[९]

“गुरुओं की सम्मान-सहित सुश्रुषा करियो,
 सखी-भाव से हृदय सदा सौतो का हरियो ।
 करे यदपि अपमान, मान मत कीजो पति सं,
 हूजो अति सन्तुष्ट स्वल्प भो उसकी रति से ॥

[१०]

परिजन को अनुकूल आचरण से सुख दीजो,
 कर्मा भूल कर बड़े भाग्य पर गर्व न कीजो ॥
 इसी चाल से स्त्रियाँ सुगृहिणी-पद पाती है,
 उलटी चलकर वंश-व्याधियाँ कहलाती है ॥

[११]

“शकुन्तले ! निश्चिन्त आज हूँ यद्यपि तुम्हसे,
 सदा न जाता किन्तु विरह यह तेरा मुहसे ।
 अहो ! गृहस्थ समान मानता हूँ अपने को !
 सशा-भा में आज जानता हूँ सपने को !

[१२]

“सुते ! तव-स्मृति-चिन्ह तपोवन में बहुतेरे—
 देते थे जो मदामोद मानस में गेरे ।
 उदासीनता बढ़ा रहे है आज सभी ये,
 कुछ के कुछ होगये दृश्य सब अभी अभी ये !

[१३]

“सारा आश्रम आज शून्यता दिसावता है,
 धन से मा वैराग्य-भाव बढ़ता जाता है ।
 बन्धों-सा कौन धिपिन में अर बिचरेगा ?
 भृग सत्तति अर किसे घेर कर खेल करेगी ?

[१४]

“कौन मालिनी-तौर नौर लेने आवेगी ?
 कौन मल्लिकार्जुन पुगा पुगा कर मुर पावेगी ?
 कौन प्रेम से पुष्प-वाटिका को मीचेगी ?
 कौन अचानक सर्प-तर्जनी के रग मीचेगी ?

[१५]

“कौन नौद कर शीघ्र—उठाने को हीरे स—
 नीद-व्युत रग पाव सँभालेगी धीरे स ?
 रक्त रक्त के धन विदग्ध पेडा स उड़ कर—
 बोलेंगे मृदु बचन बैठ किसके अङ्गों पर ?

[१६]

“बिना कहे ही कौन अखिल आलसता त्यागे—
 रखेगी होमोपकरण बेनी के आगे ?
 मेरे पय के कौन कास-कण्ठक चुन लेगी ?
 कौन उचित आतिथ्य अतिथि लोगों को देगी ?

[१७]

“वेदी खुदती देख हरिण शृङ्गो के मारे—

‘वेटी’ कह कर किसे बुलाऊँगा मैं द्वारे ?

किसको आया देख शान्त वे हो जावेंगे ?

अपनी खोई हुई सम्पदा सी पावेंगे ॥

[१८]

“जाने दूँ, यह विषय और भी है दुखदायी;

सुते ! धैर्य धर, बने मार्ग तेरा सुखदायी ॥

मेरा वह उपदेश फभी तू भूल न जाना,

शील-सुधा से सींच जगत को स्वर्ग बनाना ॥”

[१९]

यों कहकर जब मौन हुए मुनि सकरुण होकर—

शकुन्तला गिर पड़ी पदों में उनके रो कर ।

“होगे कब हे तात, तपोवन के दर्शन फिर ?”

इतना कह कर हुई दुःख से वह अति अस्थिर ॥

[२०]

“रह कर चिरदिन भूमि मपत्नी, नृप की रानी,

रुके न जिसका मार्ग पुत्र पाकर तुलजानी ।

करके उसका व्याह, राज्य सिंहासन देकर—

आवेगी पति सङ्ग यहाँ फिर तू यश लेकर ॥

[२१]

“जब तू प्रिय के यहाँ सुगृहिणी पद पावेगी,
गुरु, काय्यों में लौन मदा मुग्य सरमावेगी ।
रवि को प्राची-सहरा ये छु सुत उपजावेगी,
तब वह मेरा विरह-दुःख मध दिमरावेगी ॥’

[२२]

यों ही बहुविध उस कण्ठ सुनि ने समझाया,
मिग किया, दो शिष्यवरों को सङ्ग पठाया ।
रुद्र गौमती तरस्विनी भी पहुँचाने को—
उमका उम सोमाग्य नेग्रहर मुख पाने का ॥

[२३]

राहुन्तला घर गई, विपिन को सूना कर के,
दोनों सलियों फिरी छिरी दिव भीरज घरने ।
मोरा ने निज नृत्य, शृगा न चरना छोडा,
हिमगिरि ने मा थाप-थारि-भम मरना छोडा ।



त्याग

[१]

पहुँची शकुन्तला जब प्रिय के निकट हस्तिनापुर में,
उठने लगीं भावनाये तब बहुविध उससे उर मे—
“देखूँ आर्य्यपुत्र अब मुझ से मिलकर क्या कहते है ?
हृदय ! न शक्ति हो, तुझ पर वे सदा सदय रहते है ॥”

[२]

किन्तु सदय होकर भी प्रिय ने निर्दयता दिखलाई;
हाय ! शाप-वश दुर्वासा के, सुध न प्रिया की आई।
तो भी उचित समादर नृप से मुनि-शिष्यों ने पाया,
कुशल-प्रश्न हो जाने पर यो गुरु-सन्देश सुनाया—

[३]

“तुमने जो मेरी बेटी का पाणिग्रहण किया है—
उसको हर्ष और सुखपूर्वक मैंने मान लिया है।
शकुन्तला सत्किया-भूति है, तुम सज्जन गुणशाली;
मिटी आज विधि की वह निन्दा अनमिल जोड़ीवाली ॥

[४]

“हमें तपस्वी जान और निज कुल भी भेष्ट समझकर—
म्वजनोपाय विना ही तुमने प्रेम किया जो इस पर।
तो तुम सभी रानियों के सम इसे मानते रहना,
भार्याधीनक्षिणैव भाव पर उचित नहीं शुद्ध कहना ॥”

[५]

यों कह कर मुनि शिष्य हुए जब मौन नृपति के आगे,
तब विस्मय के भाव शाप-वश उनके मन में जागे ।
सचकित-से—“यह क्या रहस्य है ?”—यही वचन वे बाल,
शकुन्तला-भलिनी पर माना पड़ अचानक ओठे ।

[६]

कदा शाङ्गरस ने तब—“यह क्या ? नृप ! तुम यह क्या कहा
शङ्कनीय होती सतियों भी पिता गेठ में रहते ।
अतः बन्धुजन यही चाहते—लेशाचार समझ कर—
पति के स्नेह बिना भी प्रमदा स्त्रियों रह प्रिय के घर ॥’

[७]

कदा भूप ने तब—“क्या मेरा क्याह हुआ था इससे ?
हा ! अब क्या था, शकुन्तला को आशा रहती जिससे
पर थोड़ी गौमता कि “वत्स ! अब छत्रा मत मानें,
ला घूँघट खोले मैं, जिससे तुम्हको पति पहिचानें ॥

[८]

अहा ! चन्द्र-सा निकला जन से, फैल गया उजियाला,
शाप-विकार भी नृप के मन पर पड़ा प्रभाव निराला !
त्याग और स्वीकार तब कुछ भी किया गया नरवर से,
ओस भरे कल-कुन्त-कुसुम के वे हो गये भ्रमर-से ।

[९]

लज्जा की लाली फैली थी भोंहे तनिक चढ़ी थी,
 प्रीया नीची थी पर आखे नृप की ओर बढ़ी थी ।
 कहती थी मानो वे उनसे—क्या हमको छोड़ोगे ?
 आर्य्यपुत्र ! दो दिन पाँछे ही क्या यों मुँह मोड़ोगे ?

[१०]

चित्र लिखे-से रहे देखते नृप दोनों हग खोले,
 कहने पर फिर मुनि-शिष्यों के धीरे धीरे बोले—
 “याद नहीं आता है इसके साथ व्याह का होना,
 हे ऋषियो ! फिर समुचित है क्या मुझे धर्म का खोना ?”

[११]

अपने कर की ओर दृष्टि तब शकुन्तला ने डाली,
 पर अभाग्य ! सूनी थी अँगुली नाम मुद्रिका वाली ।
 विषदा पड़ने पर ऐसा ही होता है भूतल में,
 पथ में तीर्थाचमन-समय थी गिरी अँगूठी जल में ॥

[१२]

जिसने प्रफट देखने पर भा तनिक नहीं पहिचाना,
 — निष्फल ही है निश्चय उसको अपनी याद दिलाना ।
 पर अपने लोकापवाद का मन में चिन्ता कर के—
 बोली किसी तरह यह प्रिय से ज्यों त्यों धीरे-धीरे के—

[१३]

“पिया न था उम दिन जब मेरे सृग ने तुमसे पानी,
मुझसे पाने पर तब तुमने यों यह बात बगानी—
“सचमुच सब कोई महवामी को ही पतियाता है,
छत्ता-मुञ्ज की इस घटना का ध्यान तुम्हें आता है ?”

[१४]

घोड़े नृप—“होता है यों ही क्षियिजनों का मरना,
मुझे म-यरा चारता है क्या तू या दृष्ट कराना ?
मर्यादा को छोड़ नदी जो हूँ सृष्टि गिराती—
य-अपना पाना बिगाड़ कर क्षयि गना हो जाती ॥”

[१५]

“मेरे पश्य वचन सुन पति के सुत्र हुए यह धारा,
भू-मिम स उतने स्मर का सा चाप भङ्ग कर छाग ।
देख अट्टमिम भाव भूष मा लो साधने कारण,
मुनि शिष्या ने कश अन्त म कर निज कीप निवारण—

[१६]

“प्रथम पराश्रम किये बिना जगत् प्रथम किया जाता है—
ठाक है कि यह धैर्य मात्र ही पीठ प्रकटाता है ।
जो है, नृप ! तू इसका पति है, यह है तेरी नारी,
इस छोड़ने या रखने का है तू ही अधिकार ॥”

[१७]

कह कर यों मुनि-शिष्य वहाँ से विदा हुए आश्रम को;
 शकुन्तला क्या करे ? कोसने लगी दैव के क्रम को;
 गेती रोती चली उन्हीं के पीछे वह बेचारी,
 भ्रम-वश भी भूपति के मन से उपजा ममता भारी ।

[१८]

कहा लौट कर ऋषियों ने—“यदि राच है नृप का कहना—
 तो कैसे सम्भव है तेरा पिता-गोद से रहना ?
 और आत्म-पुचिता पर तेरा मन, यदि है विश्वामी—
 तो पति-गृह से ही निवास कर वन कर भी तू दासी ।”

[१९]

चले गये मुनि-शिष्य गौतमी-नन्दि वगैरे वन को,
 मर्मांतक दुख हुआ गर्भिणी शकुन्तला के मन को ।
 अपने हृत्तविधि की ही निन्दा की उसने रो रो कर,
 सतियों पति को नहीं कोसती परित्यक्त भी होकर ॥

[२०]

यही कहा उसने कि—“कहो अब मैं अभ्याग्निनी जाऊँ ?
 माँ धरणी ! तू मुझे ठोर दे, तुझ से अभी नगाऊँ ।”
 प्रभामयी मेतका उसे तब उड़ा ले गई आकर—
 पौर कश्यपाश्रम से रक्ता-हमकूट पर जाकर ॥

[१]

नृप-नाम-मुद्रिता जो जल-मध्य जा गिरी की—
जिससे शकुन्तला पर दुःख का घटा चिरा था ।
पाद गढ़ अनन्तर बह मीन के उदर में,
होकर पुन प्रकाशित पहुँची महीप-कर में ॥

[२]

पाकर उसे अचानक मूट नाग-से पड़ वे,
सुध आ गइ प्रिया की, व्याकुल हुए बड़े वे ।
तत्क्षण शकुन्तला का बह त्याग याद आया,
आम्हार शोक छाया अनुराग याद आया ॥

[३]

धिक्कारने लगे सन सन भौंति आप को वे ।
सहने लगे विनशा हो अनुताप-साप को वे ।
सम्राट भाव में भी अति शीत्न हुए वे,
वीरमणी, बली भी गति-हीन-स हुए वे ।

[४]

“मृगलैचनी प्रिया ने था जन तुम जगाया—
जागा न, आप ही यो हा । आप को टगाया ।
सब दुःख भोगने का जागा सु-योग सुकर,
पटता नहीं हन्य । तू फिर भी विदोष होकर ।

[५]

था स्वप्न या भ्रम-भ्रम, माया कि हाथ छल था;
 या दृश्यमान मेरा वह अल्प पुण्य-फल था ?
 उसके पुनर्मिलन की अब है मुझे न आशा,
 डूबी अथाह जल में मेरी मनोभिलाषा !

[६]

थी सामने प्रिया जब देखा नहीं उसे तब,
 आँसू बहा रहे हैं उसके लिये वृथा अब ।
 धिक्, ढोंग कर रहे हैं अब व्यर्थ ही विलोचन,
 हा ! किस प्रकार होगा मेरा कलङ्क-मोचन ?

[७]

सर्वस्व मान कर भी मैंने जिसे हटाया,
 जो थी अभिन्न उसका गौरव स्वयं घटाया ।
 हा ! कौन जन करेगा विश्वास और मेरा ?
 अपयश अवश्य होगा अब ठौर ठौर मेरा ॥

[८]

जिस देव-दुर्लभा ने तन, मन मुझे दिया था,
 सांभाल्य मान मैंने स्वीकृत जिने किया था ।
 त्यागा उसे अचानक मैंने तनिक न जादा-
 होकर कुलीन मैंने अज्झा नियम निदादा !

[९]

रक्ता इधर प्रिया को मैंने न जय दुड़न कर,
 त्या छोड़ कर चले जय मुनि-शिष्य भा घुड़न कर ।
 तन दृष्टि हाथ । उमों जा अत्रुधूण दा दी—
 यह इस रती मुझे है बन कर बराल व्याला ॥

[१०]

ना की कुल प्रतिष्ठा, निराप धर्म नाया,
 मैं पुत्र रूप न था निमम स्वय ममाया ।
 मुक्त मूढ़ ने ऊँ हा । त्यागा तथापि तेम—
 छाड़ मफल धरा का बाहर निस्तान जैस ।

[११]

उचि सौम्य मूर्ति मैसा विधि ने रचो न होगी,
 पर इम विपत्ति स बद जार्ति बचा न क्षणी ।
 कैसा नृरास है मैं निज धरा-मूल-जार्ति,
 तनते हृथे प्रिया का मेरा पटी न छाती ॥

[१२]

यह एक साधना भी निकटी नितान्त क्षुद्रा,
 कर छोड़ कर प्रिया का जल में गिरो अँगूटी ।
 जड री परन्तु यह तो रगती कहीं विवेचन ?
 मैने उसे दला क्यों हाकर मनीन, चेतन ?”

[१३]

यों ही विलाप करके थे नृप अचेत होते,
 चैतन्यलाभ मे फिर थे पूर्व-तुल्य रोते ।
 वे स्वप्न का मिलन भी निद्रा विना न पाते,
 जो चित्र देखते तो थे अश्रु विघ्न लाते !

[१४]

उद्यान मे कभी वे उन्मत्त से विचरते,
 करके स्मरण प्रिया का बहुविध विलाप करते ।
 बस देख कर लताएँ उसके समान कुछ कुछ—
 करते विलोचनों को सन्तोष-दान कुछ कुछ ॥

[१५]

माढव्य जो सखा था वह साथ साथ रहता,
 धहु भौंति सान्त्वना के अनुकूल वाक्य कहता ।
 उनका यही कथन था—“हे मित्र क्या करूँ मैं ?
 ऐसे प्रनर्थ मे हा ! अथ भैर्य क्या धरूँ मैं ?”

[१६]

मन्नेह था कि प्यारी जीती रही न होगी,
 हा ! कौन जी नरेगा ऐसा विपत्ति-भोगी ?
 पर हुन सुगदनाएँ उसको जिला रही थीं—
 पिय क दशा सुना कर धीरज दिला रही थीं ॥

कर्तव्य

[१]

ध्यान कर करते प्रिया के त्याग का—

और उसके शील का, अनुराग का ।

नृप निरन्तर ध्येय ही रहने लगे,

जो न मढ़ने पाप्य था सड़ने लगे ॥

[२]

साच कर वह पूर्ण की घटना समी—

आत्मनिदा आप ही करते कभी ।

रत्न प्रिया का विग्रह जन तन सामने—

देखते वे आप भी प्रतिमा बने ॥

[३]

सुष म थी सुर-सान-याग कहाँ गया,

और तो क्या राज-काज कहाँ गया ।

स्तान-मान कहाँ कि रुचि जाती रही,

सन गया बस याद ही आता रही ॥

[४]

कार्य्य सम्प्रति-योग्य जो होते कहीं—

सचिव-गण लिख भेजते उनको कहीं ।

कर किसी विषय चित्त सयत अम समय—

घाघ्य हो आन्श देते धैर्य्य मय ॥

[५]

एक दिन संवाद आया यह नया—

“वणिक कोई डूब वारिधि में गया ।
धन बहुत पर सुत-रहित आगार है,
अस्तु उस पर राज्य का अधिकार है ॥”

[६]

सोचकर मन में, कहा तब भूप ने,
(धर्मधारी न्याय के नर-रूप ने ।)
“गर्भिणी यदि हो वणिग्गृहणी कहीं ?
पूछ कर देखो कि वह है या नहीं ?”

[७]

गर्भिणी निकली वणिग्गृहणी सही,
तुष्ट होकर तब कहा नृप ने यही—
“ठीक है तो और कौन विचार है ?
पितृय धन पर गर्भ का अधिकार है ॥”

[८]

न्याय में यद्यपि न सुख संशय रहा—
किन्तु फिर तत्काल ही नृप ने कहा—
“यह नहीं, सन्तान हो अथवा न हो,
घोषणा के रूप में सब सं पड़े—

[९]

“वापिसा को छोड़ कर, सुन लें सभी,
जिम म्यन्न का हो वियोग चितेकमी ।
यह प्रजा दुष्यन्त को जाने यही,
और उसके स्थान में माने यही ॥

[१०]

घोषणा सर्वत्र यह कर श्री गद्ग,
सब प्रजा में प्रीति सी भर दी गई ।
पर दुःख गति और ही नृप चित्त का,
सच कर चटना वशिष्ठ के चित्त की ॥

[११]

“जन्म जित पुण्यश का भी सम्पन्न—
(ब्रह्मिणी जो रही अन्न तब सदा ।)
मुक्त बिना या हा पड़ी रह जायगी,
कौन जाने काम, किमने आयगी ॥

[१२]

“कि मुझे है प्राप्त सुन जो तज लिया,
आप ही अपना पितरा का किया ।
त्याग दो मैंने स्वर्गद्विणीगुणवती—
रमणी, कुलरतिणी, रमणी, सदा ॥

[१३]

“पितर जितने हैं न होगी कल उन्हें,
 कौन मेरे बाद देगा जल उन्हें ?
 आज भी हा ! हा ! सलिल मेरा दिया—
 ओसुओं के साथ जाता है पिया !

[१४]

“हा ! गया मैं लोक से, परलोक से,”
 नृप हुए यों कह विमोहित शोक से ।
 नजग होने पर हुई चिन्ता नई,
 आर्तवणी सुन पड़ी करुणामयी ॥

[१५]

कण्ठ था माढव्य का करुणा-भरा—
 ‘दौड़ियो रक्षार्थ कोई, मैं मरा ।’
 व्यग्र हो देखा नृपति ने चौक कर,
 पर न दिखलाई दिया कोई उधर ॥

[१६]

सुन पड़ा फिर कण्ठ-रव उनको नया—
 ‘अब फहो दुष्यन्त नृप वह है गया ?
 वह अभयदानत्व उमका है क्यों ?
 मारता हूँ देर मैं तुम्हको यहा !’

[१७]

धनुष लेकर जब से नृप ने कहा—
‘हे, मुझे भी यह चिन्ता दी रहे !
शठ ! भले ही तू न दास पड़े मुझे—
नेत्र लेगा किन्तु मेरा शर तुझे ॥

[१८]

छोड़ना न परन्तु कसो शर पड़ा,
सामने आकर हुआ मातलि तदा ।
और बोला वह सहर्ष महाप से,
(एक पन्की, धार, पुर-कुल-शेष से ।)

[१९]

“इन्द्र ने है दैत्य-गण निपट दिये,
छोड़ना ये शर इन्हीं पर चाहिए ।
सुवन सुन्दर पर न शस्त्र सँभालते,
प्रेम की ही दृष्टि उन पर डालते ॥

[२०]

“आपको उत्तेजना हो इसलिये—
रोल ये मादय मे मैंने किये ।
ओभ में हा प्रकट होता नृप है,
गरजता छेड़ बिना कब सर्प है ?

[२१]

भूप ने आदर किया सुर-सूत का,
कार्य फिर उससे सुना पुरुहूत का ।
'कालिनेमि कुलस्थ एक अदेव गण—
कर रहा है देव-कुल से घोर रण ॥

[२२]

'शक्र जीत सके न पाप-कलाप को,
कर रहे है याद इससे आपको ।
दूर कर सकता नहीं रवि नैश तम,
पर मिटा देता उसे विधु एक दम ॥'

[२३]

नृप हुए सन्तुष्ट इस उत्कर्ष से,
दिव्य रथ पर चढ़ चले वे हर्ष सं ।
प्रबल भाव सदैव ही प्रतिपक्ष का—
है प्रवर्तक वीर जन के वक्ष का ॥

शाक्य — रजिनी ५ तत्त्व-भयन
रजिनी ५ तत्त्व-भयन

मिलन

[१]

मिली जय-आ यशपि अमुर मग्नम में,
 शरुन्तअ ही रही किन्तु इदाम म ।
 मिली न नप की शांति, नैष का दोर गा,
 नैष-कार्य कर सने यद्वा सन्तोष या ॥

[२]

निन ममान सम्मान अमरपति ने जिना,
 निन रय में बैटाल निश मनो किया ।
 नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष,
 नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष ॥

[३]

चित्त रय न गया नैष नम क, टग,
 घूम रही की न नैष मनोरम पा रदा ।
 परिज स सुगमरी नैष की नैष रही,
 नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष ॥

[४]

का ताया नैष अदराग म सुर क नैष—
 टिगने नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष ।
 अफना वशोविराग स्वग तर नैष के—
 नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष नैष ॥

[५]

जाते करते हुए शक्र के सूत से,
नीचे आते हुए व्योम-पथ पूत से ।
दीख पड़ा भूलोक उन्हें बढ़ता हुआ,
मानो उनकी ओर आप बढ़ता हुआ ।

[६]

पूर्व और पश्चिम-समुद्र-मध्यस्थ-सम—
हेमकूट ही उन्हें दृष्टि आया प्रथम ।
तान्ध्यमेघ की अमल अर्गला-सी भली—
फैल रही थी जनों कनक-रेखावली ॥

[७]

प्रदिति-सहित मारीचि दरी दिख्यात थे,
जो ब्रह्मा के पौत्र, सुरासुर-तात थे,
पुण्याश्रम या तपः-पूर्ण उनका वर्ण,
वैसा शान्ति-स्थान स्वर्ग भी था नहीं ॥

[८]

करते थे तप कहीं तपस्वी जन यज्ञे;
अचल स्थाणु-समान सू-ये-मन्दुल-वदे ।
जटा जूट ये नीड खगों के वन गये,
दृश्य दिलाए सभी वर्णों पर ये नये ॥

[९]

और वहाँ क्या था कि भूप को इष्ट हो ?

घर्जन जिमरा तथा यहाँ अग्रशिष्ट हो ?

और वहाँ था शङ्ख-तला सुमुनी वहाँ—

तब वो जिमने यिना भूय थी सब मही ॥

[१०]

शङ्ख-तला का वहाँ जैन आधार था ?

सर्वदमन मुत जो कि हृदय का सार था ।

सर्वदमन के लिए धन्य पगु-याग था,

जिनस कीर्तित उसे सुन्दर सा स्वर्ग था ॥

[११]

किन्तु भूप का हाथ ! न यह शुद्ध ज्ञात था,

कड्यप-दर्शन-योग मात्र प्रतिभात था ।

उतरे थे तब वहाँ राज-भद्र स रहित—

और चले गये छाड़ स्वयं मातलि-सन्ति ॥

[१२]

बोला मातलि तनिक दूर चलकर वहाँ—

“इस असोक के तले आप छूरे यहाँ ।

तब तब अवसर देख शीघ्र करके नमन—

इ द्र पिता से कहूँ आपका आगमन ।”

[१३]

उर गये नृप वहीं विटप की छाँह में,
हुआ विस्फुरण शकुन-रूप वर वोह मे ।
याद आगया कण्व-तपोवन फिर अहा !
लेकर एक उसाँस उन्होंने यो कहा—

[१४]

"आशा भी अब सिद्ध मनोरथ को कहाँ ?
फड़क रहा फिर व्यर्थ अरे भुज क्यों यहाँ ?
पूर्वापेक्षित सौख्य दुःख वनता अहो !
करने को उपहास अपसर तू न हो ।

[१५]

याँ कहते सुन पड़ी गिरा उनको वहीं—
'नहीं वत्स ! यह कार्य्य उचित तेरा नहीं ।'
चोंक पड़े वे समझ स्व-वाक्य-विरोध-सा,
हुआ सामने देख दिव्य सुख-बोध-सा ॥

[१६]

दो तपस्विनी छियाँ जिसे समझा रहीं—
(नहीं वत्स, यह उचित कार्य्य तेरा नहीं ।)
दाँटा शिशुवर एक सिद्ध को पाँटता—
गावृ-स्तन से उसे सवेग घसीटता !

[१७]

सिना हुआ मुस-कज मञ्जु दशनावली,
अगर अघर, कलकण्ठ तोतली काफला ।
कामल केरा-कलाप, धन्य विधि-चातुरी,
मुग्ध हुए नृप देर बाल द्वि-माधुरी ॥

[१८]

धारे अनुपम चर्यार्ति-चिहावली,
कश्यप-वृत्त सत्कार, सार्यनामा, पली ।
धा वह बालक सूर्यदमन नामक बही—
पाकर जिसको राकुन्तला थी जी रही ॥

[१९]

मूर्तिमान क्या तेज तपोवन का हुआ ।
बुद्ध विचित्र ही भाव भूप मन का हुआ ।
लेकर फिर निश्वास कहने या करा—
“किस सुकृती का पुत्र रत्न यह है अदा ।

[२०]

अरे हृदय ! जो लता उखाड़ी जा चुकी—
और उपेक्षा-साप कभी का पा चुकी ।
आशा क्या कर-रहा उसी के मूँट की ?
फट से पड़ले बात सोच तु मूँट की ॥

[२१]

लेकर ऐसा गेहरल जो गोद मे—
 करते हैं निज अङ्ग धूसरित मोद मे ।
 हैं वे ही जन धन्य धरा पर सर्वथा,
 पर तेरा यह लोभ हाय अब है बृथा ॥”

[२२]

सर्वदमन ने कहा उधर रस घोल के—
 “सिंह ! मुझे तू दाँत गिना, मुँह खोल के ।”
 यों कह वह तेजसी हुआ हर्षित बड़ा,
 इन्धनार्थ अङ्गार सजग मानों खड़ा !

[२३]

मातृ रूपिणी तपस्विनी ने फिर कहा—
 “रे उद्धत ! यह क्या अनर्थ तू कर रहा ?
 हम तो इन पर पुत्र-तुल्य रत्नर्तों दया,
 सर्वदमन तब नाम ठीक रखता गया ॥

[२४]

“जोड़ेगा यदि तू न इसे दृढ-शेष से,
 ग़पटेगी तो सभी सिंहनी रोष से ।”
 सर्वदमन ने कहा मुँह बना—“क्यों नहीं—
 उरता जो है सिंह देख मैं मग करी !”

[२५]

जहोमूत-से मुग्ध देखते नृप रहे,
 झुलुल वचन फिर तपस्विनी ने या कहे—
 “रत्न छोड़ दे इसे, तम आता मुझे,
 दुँगा कोद और खिलौना मैं तुम्हे ॥”

[२६]

एक तापसी गई खिलौन के लिए,
 बोला बालक सिद्ध-कृपा-करण कि—
 “रुखें तब तक इसी सिद्ध मे मैं यहाँ,”
 या क' कर बड़ हँसा मे' प्यंक बहाँ ॥

[२७]

बाला तब बड़ तपस्विनी नरपाल से—
 “मद्र ! बचाओ इम तुम्हीं इम बाल स ।
 मममाकर तब सर्व-मन को नीति मे,
 बोले मका हाथ पकड़ नृप प्रीति स—

[२८]

“एक बार इम किमी धन्य कुल-धन्य को—
 गृहर इतना दर्प हुआ मुक्त अन्य को ।
 दाता दाना दर्प उसे कितना बड़ा—
 यह निमरु अकृत्य हुआ इतना बड़ा ।”

[२९]

तपस्विनी ने कहा कि “यह पुरु-वंश है—

तब तो इतना अभी तेज का अंश है ।

इसका मुख किन्तु तुम्हारा-मा अहा !

और मान भी गया तुम्हारा यह कहा !”

[३०]

पुन निज कुल का नाम भूष शक्ति हुए,

मन मे बहु विध तर्क-भाव अद्वित हुए ।

र बोले वे प्रकट तापसी से वहाँ—

“आ सकता है मनुज आप कैसे यहाँ ?”

[३१]

बोली फिर वह तपस्विनी ममतायुता—

“है इसकी माँ किन्तु मनका का सुता ।”

आशा पूर्णक पुनः प्रथ नृप ने किया

“है वह किस राजर्षि वीरवर की पिया ?”

[३२]

“शकुन्तला-सी एक सती सत्यस्मिणी—

लागी जिसने व्यर्थ; जो कि थी गर्भिणी ।

उमका भुत भी नाम जाय कैसे लिगा ?”

साफ़ नाफ़ उस तपस्विनी ने कर दिया ॥

[३३]

‘मैं हा हूँ ब’ महानिम्ब, अविनाश हा !
 होगा मुझ सा और कौन अमीत हा !’
 या बहुरर दुःखत वहीं पर निर प’,
 ग मरुत थ मग कमी चे स्थिर राइ ?

[३४]

ग यह भी मौभाग्य किन्तु उनके लिए,
 विधि ने फिर या सुदिन पर उनर गिये ।
 प्राप्त किया जन चेत अहाने, मौ म—
 पाया निन को शङ्खन्तग का गो म ।

[३५]

“मिठा माद तम, आन मिठे मन गुन मुके,
 धन्य भाग्य जो सुमुखि ! देखता हूँ तुम्हें ।
 मिट जाने पर प्रहणरूप विधु की व्यथा—
 मिल जाता है उरु रोशनी फिर यथा ॥

[३६]

शङ्खन्तला की ज्ञान न अपना भी रहा,
 “आय्यपुत्र की —यही मात्र उमने कहा ।
 ‘जय हो’ निकल नहीं, गिरा की गति रकी,
 चोले रूप “वह मुझे प्रथम ही मिल चुकी ॥”

[३७]

‘मन करने से बढ़ी अङ्ग-कृशता बढ़ी,
 सिर पर उलझी हुई एक वेणी पड़ी ।
 धूल भरे तनु-वल्ल मलिन से हो रहे,
 तू ने मेरे लिए हाथ ! ये दुख सहे ?

[३८]

धूल प्रिये, अपमान, मुझे था भ्रम हुआ;
 किसी पाप-वश महामोह का जम हुआ ।
 मुझे क्षमा कर सुतनु ! दया का दान कर,
 हार फेरता अन्य भुजङ्गम जान कर !”

[३९]

पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
 शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर—
 “उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
 मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था ॥”

[४०]

इसी समय पुरुषोत्तम आया वहाँ,
 एक अपूर्वानन्द-भाष छाया वहाँ ।
 कश्यप-दर्शन स्थिते सभी ने फिर वहाँ,
 मनमाने घर लिए सभी ने फिर वहाँ ॥

[४१]

दुर्वासा का शाप भेद भी खुल गया—

अतः मानमालिन्य भूष का धुल गया ।
आय पत्नी, पुत्र सहित जब गेह वे,
धने शान्ति, सुख और स्वयं सुस्नेह वे ॥

[४२]

मर्यादामन न जीत अन्त में सब मही—

प्रजा भरण स 'भरत' नाम पाया सदा ।
भारत भारत बना उर्दा के नाम स,
अमर हुआ या कौन गुणों क प्राप्त स ?

[४३]

भारत ! अब यह समय तुम्हें क्या याद है ?

दाता जमना कभी मह्य दिया है ?
न गिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो !

इसका उत्तर और कौन देगा कछो !



साहित्य चन्द्रिका : नवम भाग
संविदा नव भाग, पृष्ठ १८८

हिन्दी के ख्यातनामा कवि
श्रीमेधिलीशरणजी गुप्त कृत नवीन काव्य—

हिन्दू

गुप्तजी का भारत-भारती नामक प्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य हिन्दी भाषा-भाषियों ने बड़े प्रेम और आदर के साथ अपनाया है। उन्हीं की जोरदार लेखनी से यह “हिन्दू” नामक काव्य लिखा गया है। इसमें हिन्दुओं को उठ खड़े होने के लिए जो उत्तेजन दिया गया है वह बहुत प्रभावशाली है। पुस्तक के अन्त में कुछ गीत दिए गये हैं, वे भी भाव, भाषा और ओज में अतुलनीय हैं। उत्सव, संकीर्तन, और समा आदि सामूहिक कार्यों में इन गीतों के द्वारा एक नई ही वात पंश हो सकती है। यह काव्य हिन्दुओं की दुर्बलता दूर करने के लिए,—उन्हे फिर से सशक्त और संगठित करने के लिए—बहुत बड़ी सहायता देगा। हिन्दुओं के संगठन के लिए आज तक जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन सबमें इस ग्रन्थ का आसन बहुत ऊँचा है। जो गुप्तजी की चमत्कारिणी लेखनी से परिचित है उनसे इसके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। आप स्वयं उसे पढ़िए और अपने दृष्ट मित्रों में इसका प्रचार कीजिए। इस वाणी का जितना अधिक प्रचार होगा, देश और हिन्दू जाति का उतना ही अधिक चपकार होगा।

पुस्तक नेत्ररञ्जक पारेटमार्ज में है। दृष्ट-संग्रह में ३७५ में अधिक है। मूल्य सजिले १) विशिष्ट मन्तरण १।)

पता—प्रयन्धक,
साहित्य-सदन, बिरगाँव (भौंसी)

मेघनाद वध

आधुनिक समय के भारतीय सफल साहित्यकों में त्रिगुण के महाकवि मादकठ अनुसूदन दत्त का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उनकी क सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य "मेघनाद-वध" का यह हिन्दी पद्यानुवाद हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है। इसके विषय में आचार्य
१० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी लिखते हैं—

"मेघनाद वध का कुछ भाग रचा हुआ भी पहले भी देख चुका हूँ। कुछ दिन भर उसकी सराई की। क्या भावना आया। मूढ मेरा पता हुआ है, उसकी अपेक्षा कुछ यह अनुवाद अधिक पसन्द आया। नीत की बरत रचा हुआ है, गद्य-व्यपना का क्या करना है।

सुप्रसिद्ध पद्माला विद्याल,

मूढ मेघनाद-वध महाकाव्य के प्रतिष्ठित टीकाकार,

श्रीशान्तेन्द्रमोहनदास की सम्मति का सारा—

"अनुवादक कवि इस क्षेत्र में निस्सन्देह पहले व्यक्ति हैं। उन्होंने बंगला के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य का हिन्दी संविता में विश्वास पूर्ण और अधिकृत अनुवाद करके हिन्दी-संसार में एक नवीन कार्य किया है। उनकी सबसे सुनी छेपनी न बंगला और संस्कृत भाषा में विभूषित होकर जो सज्जता प्राप्त की है वह हमारी ब्याह और अतिरिचीय भाषा का शत्रु है। उनकी विराहणी प्रवाहना सजीव और भाषा सौष्ठव की दृष्टि से मूढ का मूर्ति ही मंदिर और निर्दोष है। उनका वीराङ्गना और मेघनाद-वध नामक बंगला काव्यों का मिलान की जोड़ का जोड़ पूर्ण और ब्याह हिन्दी अनुवाद हिन्दी-संसार के लिये एक अमानवीय वस्तु है। उसमें उन्हें आश्चर्यजनक सज्जता मिली है।"

पृष्ठ संख्या ५०५ और सुवर्णवर्णित सुन्दर

रेशमी जिल्द युक्त मूल्य २॥)

वीराङ्गना

यह भी मधुसूदनदत्त के “वीराङ्गना” नामक बँगला काव्य का हिन्दी-पद्यानुवाद है। इस काव्य में भी “मेघनाद-घध” महाकाव्य के अनेक गुण हैं। सुन्दर रेशमी जिल्द। मूल्य १)

विरहिणी ब्रजाङ्गना

बंगाल के महाकवि मधुसूदनदत्त के “ब्रजाङ्गना” नामक काव्य का सुन्दर पद्यानुवाद। विरहिणी राधिका के मनोभावों का इसमें बड़ा ही हृदय-प्राही वर्णन है। चतुर्थ संस्करण। मूल्य १)

स्वदेश-सद्भोत

इसमें गुप्तजी की लिखी हुई भिन्न भिन्न विषयों पर बहुत भावपूर्ण और ओजोमय राष्ट्रीय कविताएँ हैं। मूल्य ॥१)

पञ्चवटी

यह काव्य रामायण के एक अंश को लेकर लिखा गया है। कवि ने इसमें जिस सौंदर्य की सृष्टि की है, यह बहुत ही मनोमोहक है। मूल्य ॥२)

अनघ

भीमैधिलीशरण गुप्त लिखित रूपक-काव्य। इसका कथात्मक षोडश जातक से लिया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म में जो प्राण्य सङ्कलन और नेतृत्व किया था, इसमें उसका पिताद वर्णन है। यह ग्रन्थ हिन्दी में बिलकुल नये ढंग का है, अवश्य पढ़िये। मू० ॥१)

भारत-भारती

इसमें भारत के अतीत गौरव और वर्तमान पता का बड़ा ही मनोहारी वर्णन है। इसका अन्वयन आपसो देशभक्ति के पवित्र पथ की ओर अग्रसर करने में सहायक होगा। हिन्दू-विश्व-विद्यालय में दत्त पुस्तक दी० ६० के शीर्ष में है। मूल्य १) और सुन्दर जिल्दवात ॥१)

अन्य काव्य ग्रन्थ

- जयद्रथ-यय—वीर और कल्प रस का अद्वितीय सन्दर्भाय ॥ सुक्ति १॥
 रङ्ग में मङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक सन्दर्भाय ॥
 चन्द्रहाम—भाद्रपूर्ण महीन पौराणिक नाटक ॥॥
 विडोराभा—गद्य-वचन-मय सरस पौराणिक नाटक ॥
 राहुन्दडा—राहुन्दडा नाटक के माध्या पर निराली रचना ॥२॥
 किसान—एक किसान की कल्प कथा का हृदयस्थक वचन ॥२॥
 पत्रावली—भोवसपी ऐतिहासिक कविता-पुस्तक ॥२॥
 चेतालिक—भारत की जागृति पर कोमल-भाव-वदावली ॥
 पडासा का युद्ध—बैंगला क मुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य का पद्यानुवाद ॥॥
 मौल्य-विजय—चार रस प्रधान ऐतिहासिक सन्दर्भाय ॥
 अनाथ—भाद्रुनिक कथा-मूलक सन्दर्भाय ॥
 भावना—भावमूलक विद्वत्ता गद्यकाव्य ॥
 नलाप—राय हृदयस्थ रचिन गद्य काव्य ॥२॥
 मधूत—मधूत का मनोरम पद्यानुवाद ॥
 सुभन—पण्डित महावीरप्रसाद शिवेशी की कुटुम्ब कविताओं का संग्रह ॥
 अज्ञातशत्रु—‘महावीर प्रसाद’ रचित प्रसिद्ध नाटक ॥
 ओम्—‘प्रसाद’ जी की नई रचना ॥
 प्रतिध्वनि—‘प्रसाद’ जी की छोटी छोटी कहानियों का संग्रह ॥२॥
 परिचय—प्रबोध कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह ॥

स्यापी ग्राहकों को विशेष सुविधा । स्यापी-
 ग्राहक बनिये । और अपने मित्रों को भी बनाइये ।

अन्य कान्य ग्रन्थ

- जयद्रथ-यय—वीर और कृष्ण रस का अद्वितीय सन्दर्भ ॥) सज्जित ॥)
- रङ्ग में मङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक सन्दर्भ ॥)
- चन्द्रहाम—भावपूर्ण नवीन पौराणिक नाटक ॥)
- विलोसमा—गद्य-वचन-भव सत्सु पौराणिक नाटक ॥)
- गङ्गुन्तडा—गङ्गुन्तडा नाटक के आधार पर लिखी रचना । २)
- किसा—एक किसान की कृष्ण कथा का दृष्टावक वर्णन । २)
- पत्रावली—भोजस्वी ऐतिहासिक कविता-गुस्तक । २)
- वेतालिक—भारत की जाति पर कोमल हास-पदावली ॥)
- पठामा का युद्ध—बैंगला के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य का पद्यानुवाद । ॥)
- मौष्य-विजय—बार रस प्रधान ऐतिहासिक सन्दर्भ ॥)
- अनाथ—आधुनिक कथा-मूलक सन्दर्भ ॥)
- मायना—भावमूलक विद्वान् गद्यकाव्य । ॥)
- नलाय—राय कृष्णदास रचित गद्य काव्य । २)
- मेघदूत—मेघदूत का मनोरम पद्यानुवाद । ॥)
- मुमन—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की कुटुम्ब कविताओं का संग्रह । ॥)
- अज्ञातरानु—‘भोज्यताइर प्रसाद’ रचित प्रसिद्ध नाटक । ॥)
- प्रौत्—‘प्रसाद’ जी की नई रचना । ॥)
- प्रतिध्वनि—‘प्रसाद’ जी की छोटी छोटी कहानियों का संग्रह । २)
- परिचय—नवीन कवियों की चुनी हुई कविताओं का संग्रह । ॥)

स्वाधी आहको को विशेष सुविधा । स्वाधी-
आहक धनिये । और अपने मित्रों को भी बनाइये ।

